जैन-दर्शन में जीव-तत्त्व
एक विवेचन

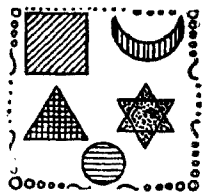

✡ श्री विजयमुनि शास्त्री

□

जीव तत्त्व

दर्शनकार जीव का लक्षण इस प्रकार करते हैं—"जो द्रव्य और भाव प्राणों से जीता है, वह जीव है। जीव उपयोग मय है, कर्ता और भोक्ता है, अमूर्त है और स्वदेह-परिमाण है। वह संसारस्थ है और सिद्ध भी है। जीव स्वभावतः एव ऊर्ध्वगमन करने वाला है।" इस लक्षण में संसारी और मुक्त सभी प्रकार के जीवों का स्वरूप कह दिया गया है।

चार्वाक (नास्तिक) मत में जीव की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। उसका खण्डन करने के लिए लक्षण में 'जीव' शब्द जोड़ा गया है। नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन को आत्मा का स्वरूप नहीं माना गया है, उसका खण्डन करने के लिए जीव को उपयोगमय कहा है। चार्वाक जीव को देह से भिन्न नहीं मानता, देह मूर्त है, किन्तु जीव मूर्त नहीं हो सकता। यह बतलाने के लिए लक्षण में 'अमूर्त पद' दिया गया है। सांख्य मत में जीव को कर्मों का कर्ता नहीं माना है, उसका परिहार करने के लिए कर्ता पद लगाया गया है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य-दर्शन वाले आत्मा को विभु एवं सर्व व्यापक मानते हैं, उनके मतों का खण्डन करने के लिए 'स्वदेह परिमाण' पद दिया है। बौद्धदर्शन में जीव को भोक्ता नहीं माना गया है, उसके निराकरण करने के लिए भोक्ता पद रखा है। सदाशिव सम्प्रदाय वाले जीव को सदा मुक्त मानते हैं, बुद्ध नहीं मानते, उनका निराश करने के लिए संसारस्थ पद जोड़ा गया है। भाट्ट और चार्वाक मत का खण्डन करने के लिए सिद्ध पद रखा है। क्योंकि वे जीव की सिद्ध दशा नहीं मानते हैं। कुछ लोग जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव स्वीकार नहीं करते, उनके मत का खण्डन करने के लिए जीव के लक्षण में एक ऊर्ध्वगमन पद भी जोड़ दिया गया है। बौद्धदर्शन सभी पदार्थों को एकान्त क्षणिक मानते हैं, और वेदान्त एवं सांख्य एकान्त नित्य। जीव के विषय में भी तीनों का यही मत है, परन्तु जैनदर्शन जीव को परिणामीनित्य मानता है। द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से परिवर्तनशील।

उपयोग

जीव के असाधारण परिणाम को उपयोग कहते हैं। वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए जीव की जो शक्ति-प्रवृत्त होती हैं, उसे उपयोग कहा गया है। उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग। जैनदर्शन के अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष—ये दो धर्म पाए जाते हैं। पदार्थ के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला दर्शनोपयोग और पदार्थ के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञानोपयोग होता है। दर्शन उपयोग को निराकार इसलिए कहते हैं, कि इसमें पदार्थ की सत्ता मात्र का ग्रहण होता है। उसमें वस्तु का आकार और प्रकार प्रतिभासित नहीं होता। इसी आधार पर इसे निर्विकल्पक भी कहते हैं, क्योंकि यह वचन-व्यवहार से शून्य रहता है। ज्ञानोपयोग साकार होता है, क्योंकि ज्ञान से जो पदार्थ जाना जाता है, उसके आकार और प्रकार का स्पष्ट परिबोध हो जाता है, तथा वह वचन-व्यवहार के योग्य भी होता है। इसे सविकल्पक ज्ञान भी कहते हैं। उपयोग जीव का असाधारण धर्म एवं परिणाम है।

जीव का कर्तृत्व

प्रश्न उठता है कि जीव किसका कर्ता है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है, कि व्यवहार नय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव कर्मरूप पुद्गल का कर्ता है, अशुद्ध निश्चय नय से जीव राग-द्वेष आदि विभाव भावों का कर्ता है और शुद्ध निश्चय नय से जीव शुद्ध ज्ञान एवं शुद्ध दर्शन आदि शुद्ध स्वभावों का कर्ता भी है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को द्रव्य कर्म क्यों कहते हैं ? इसलिए कि ये आठों कर्म पुद्गल रूप कार्मण-वर्गणा से निष्पन्न होते हैं। राग-द्वेष आदि को भाव कर्म क्यों कहते हैं ? इसलिए कि राग और द्वेष जीव के विकारी भाव हैं। परन्तु ये जीव में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए भाव कर्म कहे जाते हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म तो समझ में आगया। किन्तु नोकर्म क्या होता है ? औदारिक आदि शरीरों के योग्य और आहार आदि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को नोकर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्म को फल देने में सहायता करता है, उसे नोकर्म कहते हैं। जीव में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का कर्तृत्व है। अतः जीव कर्ता है।

शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय का स्वरूप क्या है ? जो नय कर्मजन्य बन्ध, उदय एवं सत्ता आदि-उपाधि की अपेक्षा न रखकर केवल द्रव्य के मूल स्वरूप को ग्रहण करता है, वह शुद्ध निश्चयनय कहलाता है। जो नय कर्मजन्य बन्ध एवं उदय आदि उपाधि की अपेक्षा रखकर द्रव्य के स्वरूप को ग्रहण करता है, वह अशुद्ध निश्चय नय होता है। अशुद्ध निश्चय नय और व्यवहार नय में क्या भेद है ? पर-निमित्तजन्य अवस्था से संयुक्त द्रव्य को ग्रहण करने वाला, अशुद्ध निश्चय नय होता है। परन्तु व्यवहार नय तो अन्य द्रव्य के गुणों को दूसरे द्रव्य में आरोप करने से होता है। व्यवहार नय का आधार लोक-व्यवहार होता है। पर लोक-व्यवहार कभी पदार्थभूत नहीं होता। अतः लोक-व्यवहार को विषय करने वाला व्यवहार नय असद्भूत होता है।

जीव का भोक्तृत्व

व्यवहार नय से जीव सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चयनय से जीव अपने चैतन्य भाव को ही भोगता है। जीव का भोक्तृत्व यहाँ पर तीन प्रकार से बताया गया है—व्यवहार नय से जीव कर्म उदय जन्य सुख और दुःख का भोक्ता है, अनुकूलवेदन को सुख कहते हैं और प्रतिकूल वेदन को दुःख। अशुद्ध निश्चय नय से जीव अपने राग-द्वेष रूप विभाव भावों का भोक्ता है। इसी प्रकार हर्ष और विषाद आदि भावों का भी भोक्ता है। शुद्ध निश्चय नय से जीव अपने विशुद्ध भावों का भोक्ता है। वे विशुद्ध भाव कौन से हैं। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण। अतः कर्तृत्व के समान भोक्तृत्व भी जीव का निज स्वरूप ही है।

जीव का अमूर्तत्व

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को मूर्ति कहते हैं। जिसमें मूर्ति हो, वह मूर्त और जिसमें न हो, वह अमूर्त है। जीव में ये नहीं होते, अतः जीव अमूर्त है। निश्चय नय से जीव में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं होते हैं। परन्तु संसारी अवस्था में कर्मबद्ध होने के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्त भी है। जिस समय जीव अपनी साधना के द्वारा अपने आप को कर्म के बन्धनों से सर्वथा विमुक्त कर लेता है, उस समय वह अमूर्त हो जाता है। मूर्त अवस्था विकारी अवस्था है और अमूर्त दशा, शुद्ध दशा है।

स्वदेह-परिमाण

समुद्घात अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में, जीव व्यवहार-नय से स्वदेह-परिमाण वाला होता है। क्योंकि संकोच और विकास जीव का स्वभाव है। परन्तु निश्चय नय से जीव असंख्यात प्रदेशी है, लोकव्यापी है। उसका संकोच और विकास कर्मों पर आधारित होता है। पुद्गल के अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं। आकाश के जितने स्थान को एक परमाणु घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेश वाला है, और एक जीव के भी असंख्यात ही प्रदेश होते हैं। अतः जीव में लोक-पूरण की शक्ति होती है। किन्तु जीव के प्रदेशों में संकोच और विकास कर्मोदय से प्राप्त होता है। इसी आधार पर जीव को स्वदेह-परिमाण कहा जाता है। जीव में संकोच एवं विकास दीपक के प्रकाश के समान होता हैं। समुद्घात क्या होता है ? अपने मूल शरीर में रहते हुए जीव के आत्म-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। यह क्यों होता है ? वेदना, मरण एवं कषाय आदि के कारण। किन्तु केवलि-समुद्घात में आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं। यह तब होता है, जबकि भोगावली कर्म अधिक हों, और आयुष्य कर्म के दलिक अल्प होते हैं।

ऊर्ध्वगमन स्वभाव

जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। जिस प्रकार अग्नि की शिखा स्वभावतः ही ऊपर की ओर जाती है, उसी प्रकार जीव भी कर्म-रहित होकर स्वभावतः ऊपर की ओर ही गमन करता है। संसारी अवस्था में जीव ऊर्ध्वगमन क्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करता है ? इसका समाधान यह है कि जीव अमूर्त होने के कारण स्वभावतः ऊर्ध्वगमन स्वभावी होता हुआ भी संसारी अवस्था में कर्मों के भार से संयुक्त है। अतः कर्मभार से अवनत होने के कारण आयुष्य कर्मरूप रस्सी से जिधर भी खींचा जाता है, उधर को ही चला जाता है। जीव का शुद्ध स्वभाव तूंबी के समान है। तूंबी अपने स्वभाव से तो जल की सतह पर ही रहती है, परन्तु मिट्टी का लेप लगने पर वह नीचे की ओर चली जाती है। इसी प्रकार जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील है, किन्तु कर्मों के लेप के कारण वह नीचे की ओर जाता है।

सिद्ध का स्वरूप :

सकल-कर्म-विकल जीव को सिद्ध कहते हैं। अष्टविध कर्म क्षय करके सिद्ध होने के कारण वह आठ गुणों वाला होता है। सिद्ध लोक के अग्र भाग पर स्थित हैं। अतः लोक के अग्रभाग को सिद्धक्षेत्र और सिद्ध-शिला कहते हैं। मध्य लोक के जिस भाग से जीव सिद्ध होते हैं, उसका व्यास पैंतालीस लाख योजन का है। अतः सिद्ध-शिला भी उतनी ही विस्तृत है। क्योंकि सिध्यमान जीव धनुष से छूटे तीर के समान सीधे ऊपर की ओर जाते हैं, इधर-उधर की विदिशा में उनका गमन नहीं होता है।

यदि सिध्यमान आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन ही है, तो फिर वह लोक के अग्रभाग पर ही क्यों ठहर जाता है, अलोक में क्यों नहीं जाता ? इसका उत्तर यह है कि अलोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय न होने के कारण आत्मा अलोक में गमन नहीं कर सकता। ये दोनों लोक के अग्रभाग तक ही हैं। अतः सिद्ध आत्मा लोक के अग्र-भाग पर स्थित रहते हैं। सिद्धों के भेद और उनके स्वरूप का विशेष प्रतिपादन मोक्ष तत्त्व में किया जाएगा। यहाँ केवल स्वरूप का संक्षेप में कथन किया है।

संसारस्थ जीव :

अष्ट विध कर्मों से बद्ध जीव को संसारस्थ कहते हैं। जो जीव अभी भव-बन्धनों में बद्ध है, वह संसारी है। संसार का कारण है—कषाय भाव। जब तक जीव कषाय-युक्त है, वह मुक्त नहीं हो सकता है। और जब तक वह मुक्त नहीं होता, वह संसारस्थ कहलाता है। कर्मबद्ध आत्मा संसारी है। प्रश्न होता है कि आत्मा तो अमूर्त है, फिर मूर्त कर्म के साथ उसका बन्ध क्यों और कैसे होता है ? इस प्रश्न का समाधान यह कहकर दिया गया है, कि आत्मा अपने मूल स्वरूप से तो अमूर्त है, परन्तु मूर्त कर्म के साथ उसका सम्बन्ध होने से व्यवहार नय से आत्मा भी मूर्त कहा जाता है। यह संसारस्थ जीव का स्वरूप है।

जीव के लक्षण और स्वरूप का प्रतिपादन यहाँ पर विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। कर्म और अकर्म के आधार पर ही जीव को संसारी और सिद्ध कहा जाता है। वस्तुतः जीव तो जीव है, वह न तो संसारी है, और न सिद्ध। संसारी और सिद्ध ये जीव की पर्याय विशेष हैं। कर्म सहित आत्मा संसारी और कर्म रहित आत्मा सिद्ध। कर्म एक उपाधि है, जिसके सद्भाव और असद्भाव से आत्मा संसारी एवं सिद्ध पर्याय वाला होता है। आत्मा की सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। भले ही उसके स्वरूप में विवाद हो। स्व संवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा स्वयं सिद्ध है। "मैं हूँ" अथवा "मैं विचार करता हूँ।" इस सत्य एवं तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। आत्मा और जीव की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद हैं—जैनदर्शन आत्माओं को अनन्त मानता है। अनन्त आत्माओं का वर्णन कैसे किया जाए ? इसके लिए अनेक पद्धतियों का आश्रय लेकर, आत्माओं के स्वरूप का कथन इस प्रकार से किया गया है।

जीव के भेद :

जीव अनन्त हैं। सिद्ध जीव भी अनन्त हैं, क्योंकि अनन्त काल से जीव सिद्ध होते रहे हैं। संसारस्थ जीव भी अनन्त हैं। संसार के अनन्त जीवों का कथन किसप्रकार किया जाए ? इसके लिए आचार्यों ने संसारी जीवों के स्वरूप को समझाने के लिए अनेक प्रकार से जीवों के भेद एवं वर्गीकरण किया है। जीवों के भेदों का कथन तीन प्रकार से किया गया है—संक्षेप से, विस्तार से और मध्यम रूप से। संक्षेप की अपेक्षा जीव का भेद एक है, विस्तार की अपेक्षा जीव के भेद पाँच-सौ त्रेसठ हैं, और मध्यम रूप से जीव के भेद चौदह भी हैं।

एक विध जीव :

चेतना गुण की अपेक्षा से जीव का भेद एक है। चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है। चेतना सर्वजीवों में उपलब्ध होती है। जीव मात्र का यह लक्षण है। परम संग्रह नय की दृष्टि में जिसमें चेतना है, वह जीव है। फिर भले ही वह सिद्ध हो, या संसारस्थ हो। चेतना सिद्ध में भी है, और संसारी में भी है। चेतना की दृष्टि से सिद्ध में और संसारी जीव में किसी प्रकार का भेद नहीं है। अतः चेतना गुण की अपेक्षा से अथवा परम संग्रह नय की दृष्टि से जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का एक भेद है। संसार के समस्त जीव एक हैं, सब में चेतना गुण होने से, जिसमें चेतना गुण नहीं, वह जीव भी नहीं, जैसे पुद्गल। अतः जहाँ-जहाँ जीवत्व है, वहाँ-वहाँ चेतना गुण भी अवश्य ही है।

चेतना के स्वरूप का प्रतिपादन दो प्रकार से किया गया है—आगमिक दृष्टि से और दार्शनिक दृष्टि से। आगमिक दृष्टि से चेतना क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है, कि जीव के बोध रूप व्यापार को चेतना कहते हैं। जीव का यह बोध रूप व्यापार दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। जीव की चेतना जब वस्तु के विशेष धर्मों को गौण करके वस्तु के सामान्य धर्मों को मुख्य रूप से ग्रहण करती है, तब उसे दर्शन चेतना कहते हैं। यह दर्शन चेतना ही जीव का सामान्य रूप बोध व्यापार कहा जाता है। जीव की चेतना जब वस्तु के सामान्य धर्मों को गौण करके वस्तु के विशेष धर्मों को मुख्य रूप से ग्रहण करती है, तब उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। यह ज्ञान चेतना ही जीव का विशेष रूप बोध व्यापार कहा जाता है। एक ही चेतना कभी सामान्य रूप और कभी विशेष रूप क्यों होती है? क्योंकि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। सामान्य को ग्रहण करने वाली दर्शन चेतना और विशेष को ग्रहण करने वाली ज्ञान चेतना। ज्ञान और दर्शन दोनों जीव के सहज, स्वाभाविक और अनुगत गुण हैं।

दार्शनिक दृष्टि से चेतना के तीन प्रकार हैं—ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। किसी भी वस्तु को जानने के लिए चेतना का जो ज्ञानरूप परिणाम, वह ज्ञान चेतना है। कषाय के उदय से चेतना का जो क्रोध रूप परिणाम, वह कर्म चेतना है। शुभ एवं अशुभ कर्म के उदय से चेतना का जो सुख-दुःख रूप परिणाम, वह कर्मफल चेतना है। चेतना के उक्त तीन रूपों को अन्य प्रकार से भी कहा जाता है; जैसे—जिस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और वीर्यान्तराय रूप घातीकर्मों का उदय-भाव है, इस कर्मोदय के कारण ही जिसकी चेतना शक्ति अविकसित है, अतः जो इष्ट एवं अनिष्ट रूप कार्य करने में समर्थ नहीं है, और जो प्रधान रूप से कर्म के फल का वेदन करता है, उस एकेन्द्रिय आदि जीव की चेतना, कर्मफल चेतना है। जिस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकर्म का विशेष उदय-भाव होता है, कर्मोदय के कारण जिसकी चेतना मलिन है, किन्तु वीर्यान्तराय कर्म के किंचित् क्षयोपशम से जो इष्ट एवं अनिष्ट कार्य करने में समर्थ है, उस द्वीन्द्रिय आदि जीव की चेतना, प्रधानरूप से कर्म चेतना है। जिस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और वीर्यान्तराय कर्मों का अशेष क्षय हो चुका है, जो कर्म और उसके फल को भोगने में विकल्प-रहित है, उस जीव की चेतना, प्रधान रूप से ज्ञान चेतना है। किन्तु चेतना जीवमात्र का लक्षण होने से सभी जीवों में होती है। एक अन्य प्रकार से भी चेतना के तीन भेद हो सकते हैं—परम शुद्ध चेतना, शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। परम शुद्ध चेतना केवल सिद्धों में रहती है। संसारस्थ जीवों में सम्यग्दृष्टि में और व्रती साधक में शुद्ध चेतना होती है, और मिथ्यादृष्टि में अशुद्ध चेतना होती है। परन्तु चेतना की सत्ता सभी जीवों में है।

द्विविध जीव :

जीव के दो भेद भी हैं—त्रस और स्थावर। ये दोनों भेद संसारी जीव की अपेक्षा से किये गये हैं। जिस जीव को त्रस नामकर्म का उदय हो, वह त्रस जीव और जिसको स्थावर नामकर्म का उदय हो, वह स्थावर जीव। त्रस के दो भेद हैं—गति त्रस और लब्धि त्रस। स्वतन्त्र रूप से गमन करने की शक्ति जिसमें हो, वह गति त्रस और सुख-दुःख की इच्छा से गमन करने वाला लब्धि त्रस होता है। गति त्रस के दो भेद हैं—तेजस्काय और वायुकाय। लब्धि त्रस के चार भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। स्थावर के तीन भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय औद वनस्पतिकाय।

त्रस और स्थावर शब्दों का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है—क्रिया की अपेक्षा से और कर्म के उदय की अपेक्षा से। क्रिया की अपेक्षा से स्थावर वह होता है, जो स्थान शील हों, जो चलते-फिरते न हों, एक स्थान पर स्थिर हों, इस अपेक्षा से स्थावर के तीन ही भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय। कर्म के उदय की अपेक्षा से स्थावर वह होता है, जिसको स्थावर नामकर्म का उदय हो। कर्म के उदय की अपेक्षा से तेजस्काय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं। इस दृष्टि से स्थावर के पाँच भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। काय शब्द की व्याख्या आगे दी जाएगी। त्रस के चार भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। त्रस और स्थावर के भेदों में संसारी जीवों का समग्रभाव से समावेश हो जाता है। संसारी जीव इन दोनों भेदों से बाहर नहीं रहते। मुक्त एवं सिद्ध का स्वरूप आगे बताया जाएगा।

त्रिविध जीव :

वेद की अपेक्षा से जीव के तीन भेद हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। संसारी जीवों में इन तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदों में से एक न एक वेद अवश्य ही होता है। वेद-रहित तो केवल सिद्ध ही होते हैं। संसारी जीव वेद-रहित कभी नहीं होते हैं। वेद क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है, कि काम-भोग की अभिलाषा को वेद कहते हैं। यह किस कर्म के उदय से होता है ? नोकषाय मोहनीय कर्म के उदय से। मोहनीयकर्म के दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। नोकषाय मोहनीय के नव भेदों में तीन वेद भी हैं। जिसके उदय से स्त्री के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा हो, वह पुरुषवेद, जिसके उदय से पुरुष के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा हो, वह स्त्रीवेद और जिसके उदय से स्त्री-पुरुष दोनों के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा हो, वह नपुंसक वेद। वेद को लिंग भी कहते हैं। लिंग की अपेक्षा भी तीन भेद हैं—पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। पुरुषवेद तृण की अग्नि के समान, स्त्रीवेद काष्ठ की अग्नि के समान और नपुंसकवेद करीष (उपला) की अग्नि के समान होता है। किसमें कितने वेद मिलते हैं ? नारक जीवों में केवल एक नपुंसकवेद होता है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में केवल एक नपुंसकवेद होता है। गर्भज तिर्यञ्चों में और गर्भज मनुष्यों में तीनों वेद होते हैं। देवों में केवल दो वेद मिलते हैं—पुरुषवेद और स्त्रीवेद। सभी प्रकार के सम्मूच्छिम जीवों मे केवल एक नपुंसकवेद होता है। यह कथन केवल संसारी जीवों की अपेक्षा से है। क्योंकि सिद्ध तो वेद-रहित अवेदी होते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि संसारी जीव में एक न एक वेद अवश्य ही होता है। वेद मोहनीय प्रकृति की उपशमदशा में, उसकी सत्ता रहती है, उदय नहीं। वेद का सर्वथा क्षय होने पर ही अवेदक दशा आती है।

चतुर्विध जीव :

गति के चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति। गति की अपेक्षा से जीव के चार भेद हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। गति क्या है ? नामकर्म की एक प्रकृति। जिसके उदय से जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव में उत्पन्न होता है, उसे गति कहते हैं। नरक और तिर्यञ्च पाप-प्रधान गति हैं और मनुष्य एवं देव पुण्य प्रधान गति हैं।

नरक गति के परिणाम और लेश्या अशुभतर अथवा अशुभतम होते हैं। अपने पाप का दुःखमय भोग भोगने के लिए ही जीव नरक में जाकर उत्पन्न होते हैं। नरक में भयंकर शीत वेदना, भयंकर ताप वेदना, अत्यन्त क्षुधा और अत्यन्त तृषा की वेदना होती है। नरक में दुःख ही दुःख है। नरक भूमियों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि के परिणाम अशुभ होते हैं। नारक जीवों के शरीर भी अशुभ वर्ण, अशुभ गन्ध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श और अशुभ संस्थान वाले होते हैं। उनके शरीर अशुचि और बीभत्स होते हैं। नारक जीवों का शरीर वैक्रिय होता है, किन्तु उसमें अशुभता एवं अशुचिता ही रहती है। तिर्यञ्च और मनुष्य ही मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं। देव मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते और नारक भी मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं। असंज्ञी प्राणी पहली नरक से आगे नहीं जाता। भुज परिसर्प जीव दूसरी नरक तक जा सकता है। पक्षी तीसरी नरक तक जाता है। सिंह चौथी तक और उरःपरिसर्प पाँचवी तक जा सकता है। स्त्री मरकर छठी तक जा सकती है। मत्स्य और मनुष्य सातवीं नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। पहली से लेकर तीसरी नरक तक के जीव मनुष्य जन्म लेकर तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकते हैं। चौथी नरक तक के जीव मनुष्य जन्म पाकर निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं। पाँचवीं नरक तक के जीव मनुष्य जन्म लेकर सर्वविरति रूप चारित्र की साधना कर सकते हैं। छठी नरक तक के जीव देशविरति रूप चारित्र की साधना कर सकते हैं। सातवीं नरक तक के जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं। नरकों की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागर की है, दोनों के मध्य की स्थिति, मध्यम स्थिति है। नरक भूमि सात हैं—घमा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, मघवती और माघवती। सात नरकों के सात गोत्र इस प्रकार हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमःप्रभा। इन नरक भूमियों में रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं।

तिर्यञ्च किसे कहते हैं ? नारक मनुष्य और देव को छोड़कर, संसार के शेष समस्त जीव तिर्यञ्च होते हैं। क्षुद्र जन्तु, पशु और पक्षी सब तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव होते हैं। जबकि नारक, मनुष्य और देव—सब पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यञ्चों में पाँच स्थावर के जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च ही होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की विकलेन्द्रिय संज्ञा है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के मुख्य रूप से तीन भेद हैं—जलचर, स्थलचर और खेचर। जलचर के दो भेद हैं—संमूर्च्छिम और गर्भज। फिर प्रत्येक के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। स्थलचर के दो भेद हैं—चतुष्पद और परिसर्प। परिसर्प के दो हैं—उरक और भुजग। इनमें से फिर प्रत्येक के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। खेचर के दो भेद हैं—संमूर्च्छिम और गर्भज। अथवा खेचर के चार भेद हैं—चर्म पक्षी, लोम पक्षी, समुद्ग पक्षी और वितत पक्षी। जलचर का अर्थ है—जल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चलने वाले अथवा जल में रहने वाले जीव। जैसे मत्स्य, कच्छप, ग्राह और मकर आदि। स्थलचर का अर्थ है—भूमि पर चलने वाले अथवा भूमि पर रहने वाले जीव। जैसे गज, अश्व, गाय, भैंस एवं बकरी आदि। खेचर का अर्थ है—आकाश में चलने वाले एवं आकाश में उड़ने वाले जीव। जैसे कपोत, शुक, चातक और मयूर आदि। परिसर्प का अर्थ है—सरक कर चलने वाले जीव। उस के दो भेद हैं—उर से चलने वाले जीव, जैसे सर्प, अजगर एवं अलसिया आदि और भुजाओं से चलने वाले जीव, जैसे नकुल, मूषक, गिलेहरी आदि। तिर्यञ्च जीवों का विस्तार बहुत है। परन्तु यहाँ पर संक्षेप में ही उनका वर्णन किया गया है। तिर्यञ्च जीव संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त हैं। तिर्यञ्च गति में रहने वाले तिर्यञ्च होते हैं।

मनुष्य गति नामकर्म के उदय से मनुष्य को मनुष्य जीवन मिलता है। नरक और तिर्यञ्च की अपेक्षा तो मनुष्य गति श्रेष्ठ है ही, किन्तु देवगति की अपेक्षा भी मनुष्यगति को श्रेष्ठ मानने का कारण यह है कि इसमें अध्यात्म-विकास पूर्णता को पहुँच जाता है। अतः अन्य गतियों में मनुष्य गति श्रेष्ठ है। मोक्ष की साधना, मनुष्य जीवन से ही की जा सकती है। स्वर्ग के देव भी मनुष्य जीवन की अभिलाषा करते हैं। धर्म की साधना हेतु मनुष्य जीवन से बढ़ कर अन्य कोई जीवन नहीं है।

मनुष्य को दो भागों में विभाजित किया गया है—आर्य और अनार्य (म्लेच्छ)। आर्य कौन है? जो हिंसा आदि दोषों से दूर रहता है, वह आर्य है, इस के विपरीत जो हो वह अनार्य है। आर्य के दो भेद हैं—ऋद्धि प्राप्त और अऋद्धि प्राप्त। ऋद्धि प्राप्त के यह भेद हैं—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और चारण। अऋद्धि प्राप्त आर्य के नव भेद हैं—क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कुल आर्य, कर्म आर्य, शिल्प आर्य, भाषा आर्य, ज्ञान आर्य, दर्शन और चारित्र आर्य। गुण और कर्म के आधार पर ही ये सब भेद किए गए। मनुष्य कहाँ रहते हैं? कर्मभूमि, भोगभूमि और अन्तर द्वीपों में। कर्मभूमि किसे कहते हैं? जहाँ पर असि, मसी और कृषि का व्यवहार चलता है, वह कर्मभूमि है। अथवा जहाँ पर मोक्ष और उसका मार्ग बताने वाले तीर्थंकर अवतार लेते हैं, वह कर्म भूमि है। इसके विपरीत जहाँ पर तीर्थंकर नहीं होते, तीन प्रकार का व्यवहार नहीं होता, वह भोगभूमि है। भोगभूमि के मनुष्यों को युगल कहते हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप—इन अढ़ाई द्वीपों में जो पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह हैं, इन पन्दरह को कर्मभूमि कहते हैं। पांच उत्तर कुरु, पांच देव कुरु, पांच हैमवत, पाँच हरि, पाँच रम्यक और पाँच हैरण्यवत्—ये तीस भोगभूमि हैं। जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण और उत्तर में, हिमवान् एवं शिखरी पर्वत हैं, उनके पूर्व और पश्चिम में गजदन्ताकार नोक निकले हुए हैं, एक-एक नोक पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इनकी संख्या छप्पन है, इनमें युगल मनुष्य रहते है अतः ये भी भोगभूमि हैं।

भौतिक सुख और भौतिक समृद्धि की अपेक्षा देव गति, मनुष्य गति से श्रेष्ठ है। पुण्य के प्रकर्ष से देवगति प्राप्त होती है। देवगति नामकर्म के उदय से देवगति मिलती है। देवगति में परिणाम शुभ और लेश्या शुभ होती है। समृद्धि और ऋद्धि की अपेक्षा से ही मनुष्य जीवन से देव जीवन को श्रेष्ठ माना गया है। देवों का वैक्रिय शरीर होता है, जिससे वह चाहे जैसा रूप बना लेता है। देवों के चार भेद हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

भवनों में रहने वालों को भवनपति कहते हैं। भवनपति के दश भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत-कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, मेघकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। विविध प्रकार के प्रदेशों में एवं शून्य वन प्रान्तों में रहने वालों को व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं—भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, किंनर, किंपुरुष महोरग और गान्धर्व। ज्योतिष्क देव प्रकाशमय होते हैं। ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा। अढ़ाई द्वीप में ये पाँचों चर होते हैं, और अढ़ाई द्वीप से बाहर अचर (स्थिर) होते हैं। विमानों में रहने वाले देवों को वैमानिक कहते हैं। वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न में स्वामी और सेवक भाव रहता है। किन्तु कल्पातीत में इस प्रकार का व्यवहार नहीं रहता है। कल्पोपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। कल्पातीत के दो भेद हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान। ग्रैवेयक देवों के नव भेद हैं—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट। अनुत्तर के पांच भेद हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। ये सब देवों के भेदों का वर्णन किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी देवों का भेद किया गया है। देव के पाँच भेद हैं—द्रव्य देव, नर देव, धर्म देव, देवाधिदेव और भाव देव। देवरूप में उत्पन्न होने वाला जीव, द्रव्य देव है। चक्रवर्ती को नरदेव कहते हैं। साधु को धर्म देव कहते हैं। तीर्थंकर को देवाधिदेव कहते हैं। देवों के चार निकाय भाव देव हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्च विध जीव :

करण की अपेक्षा से जीव के पाँच भेद हैं, करण का अर्थ क्या है ? करण का अर्थ है—इन्द्रिय। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान बिना इन्द्रियों के नहीं हो सकता है। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर ही किसी वस्तु का परिज्ञान हो सकता है। अतः ज्ञान में इन्द्रिय का होना आवश्यक है। किसी भी प्रकार का लौकिक प्रत्यक्ष बिना इन्द्रिय के नहीं होता है। परन्तु प्रश्न यह है, कि इन्द्रिय का अर्थ क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इन्द्र का अर्थ है—आत्मा एवं जीव। इन्द्र का, आत्मा का तथा जीव का परिबोध जिससे हो, वह इन्द्रिय है। जीव की चेतना-शक्ति को इन्द्रिय प्रकट करती है। इन्द्रिय के पाँच भेद हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। ये ज्ञानेन्द्रिय के पाँच भेद हैं। कुछ विचारक कर्मेन्द्रिय के पाँच भेद और मानते हैं। जैसे वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। किन्तु ये सब शरीर से भिन्न नहीं हैं।

एक अन्य प्रकार से भी इन्द्रियों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया गया है। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल के द्वारा इन्द्रियों का जो आकार विशेष बनता है, वह द्रव्येन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय, निर्माण नामकर्म और अंगोपांग नामकर्म के उदय का फल है। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाला जो आत्मिक परिणाम विशेष, वह भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति के दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। उपकरण के भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। निर्वृत्ति क्या है ? पुद्गल की रचना विशेष और उपकरण क्या है ? उस रचना का उपघात नहीं होने देना। निर्वृत्ति का उपकारक होने से इसको उपकरण कहते हैं। भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धि और उपभोग। लब्धि का अर्थ है—प्राप्ति। इन्द्रियों की अपने-अपने विषय के ग्रहण की शक्ति को ही वस्तुतः लब्धि कहते हैं, और उपभोग है, उस शक्ति का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना। लब्धि शक्ति है, और उपभोग है, उसकी प्रवृत्ति। लब्धि और उपभोग दोनों मति ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम रूप हैं। इसी आधार पर दोनों को भावेन्द्रिय कहते हैं।

पाँच इन्द्रियों के नाम इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन्द्रियों के विषय भी पाँच हैं—स्पर्शन का विषय स्पर्श, रसन का विषय रस, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय वर्ण (रूप) और श्रोत्र का विषय शब्द। पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय होते हैं, क्योंकि स्पर्श के आठ भेद, रस के पाँच भेद, गन्ध के दो भेद, वर्ण के पाँच भेद और शब्द के तीन भेद होते हैं, सब मिलाकर तेईस भेद हुए। न्याय-शास्त्र में एक अन्य प्रकार से इन्द्रियों के दो भेद किए गए हैं—प्राप्यकारि और अप्राप्यकारि। जो इन्द्रियाँ अपने विषय के साथ सम्बद्ध होकर, अपने विषय का ज्ञान करती है, एवं अपने विषय को ग्रहण करती हैं, वे प्राप्यकारि हैं। जैसे—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र। जो अपने विषय से सम्बद्ध न होकर भी अपने विषय को ग्रहण कर लेती है, वह अप्राप्यकारि है। जैसे चक्षु अर्थात् नेत्र। संक्षेप में यह इन्द्रियों के स्वरूप का वर्णन है।

किस जीव के कितनी इन्द्रियाँ हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार से है—पाँच स्थावर जीवों के एक-एक इन्द्रिय है। कृमि आदि के दो—स्पर्शन और रसन। पिपीलिका आदि के तीन स्पर्शन, रसन और घ्राण। भ्रमर आदि के चार—स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु। मनुष्य एवं पशु आदि के पाँच—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण)। पाँच स्थावरों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, शेष इन्द्रियाँ त्रस जीवों के ही होती हैं। इन्द्रियों के आधार पर संसारी जीवों के पाँच भेद होते हैं। जैसे कि एकेन्द्रिय जाति—जिसके केवल एक स्पर्शन हो। द्वीन्द्रिय जाति—जिनके केवल दो स्पर्शन और रसन हो। त्रीन्द्रिय जाति—जिनके केवल तीन स्पर्शन, रसन और घ्राण हो। चतुरिन्द्रिय जाति—जिनके केवल चार, स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु (नेत्र) हो। पञ्चेन्द्रिय जाति—जिनके केवल पाँच, स्पर्शन—रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) हो। यहाँ पर जाति शब्द समूह वाचक है, जिसका अर्थ है, कि समस्त संसारी जीव पाँच विभागों में विभक्त हैं। इन पाँच भेदों से बाहर संसार का कोई भी जीव एवं प्राणी बचा नहीं रहता है।

षड्विध जीव :

काय की अपेक्षा से संसारी जीव के छह भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय। 'काय' का अर्थ है—समूह एवं समुदाय। संसार के समस्त जीव छह कायों में विभक्त होने से छह काय हैं। अथवा काय का अर्थ शरीर भी होता है। इसके अनुसार पृथ्वी है, काय जिनकी वे पृथ्वीकाय जीव हैं। अप् (जल) है, शरीर जिनका वे अप्काय जीव हैं। तेजस् (अग्नि) है, शरीर जिनका वे तेजस्काय जीव हैं। वायु है, शरीर जिनका, वे वायुकाय जीव हैं। वनस्पति (सब्जी) है, शरीर जिनका, वे वनस्पतिकाय जीव हैं। जिनके शरीर में यात एवं आयात आदि क्रिया होती है, वे त्रसकाय जीव हैं। अथवा जिन जीवों को स्थावर नामकर्म का उदय हो, वे स्थावर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। जिन जीवों को त्रस नामकर्म का उदय हो, वे त्रस हैं। जैसे द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीव तक।

पृथ्वीकाय जीव कौन-से हैं। मिट्टी, खान में रहे हुए स्फटिक, मणि, रत्न, हिंगुल, हरताल, अभ्रक, सुवर्ण, रजत और पत्थर आदि। खान से निकलने पर, अग्नि एवं अन्य विजातीय पदार्थ का संयोग होने पर ये निर्जीव हो जाते हैं। अप्काय जीव कौन-से हैं ? कूप, सरोवर, नदी, हिम, वर्षा और ओस आदि का जल। तेजस्काय जीव कौन-से हैं। अग्नि, अंगार, ज्वाला, उल्कापात और आकाशीय विद्युत आदि। वायुकाय जीव कौन-से हैं। उद्भ्रामक, उत्कलिका, चक्रवात एवं वायु आदि। वनस्पतिकाय जीव कौन-से हैं। वृक्ष, लता, फल, फूल और बीज आदि। वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। जिस वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव हों, वह साधारण। जैसे कन्द, मूल, शैवाल, गाजर, मूली एवं आलू-आदि। अनन्त जीवों का एक शरीर होने से इसे अनन्तकाय भी कहते हैं। जिस वनस्पति के एक शरीर में एक जीव हो, वह प्रत्येक कहलाती है। जैसे फल, फूल, लता, वृक्ष, छाल एवं पत्ता आदि। त्रस काय के चार भेद हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव।

चतुर्दश विध जीव :

किसी अपेक्षा से जीव के चौदह भेद होते हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव के चार भेद, पञ्चेन्द्रिय जीव के चार भेद और विकलेन्द्रिय जीव के छह भेद। एकेन्द्रिय के चार भेद कौन-से हैं ? सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म का पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर का पर्याप्त और अपर्याप्त। पञ्चेन्द्रिय के चार भेद कौन-से हैं ? संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी का पर्याप्त और अपर्याप्त। असंज्ञी का पर्याप्त और अपर्याप्त। विकलेन्द्रिय के छह भेद कौन-से हैं ? द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। इन तीन का पर्याप्त और अपर्याप्त इस प्रकार जीव के चौदह भेद होते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव का स्वरूप क्या है ? सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्मचक्षु से देखा नहीं जा सकता है, वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव है। ये सूक्ष्म जीव चतुर्दश रज्जु-प्रमाण सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र परिव्याप्त हैं। इस लोक में एक भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ सूक्ष्म जीव न हों। वे इतने सूक्ष्म हैं, कि पर्वत की कठोर चट्टान में से भी आर-पार हो जाते हैं। किसी के मारने पर भी वे मरते नहीं हैं। विश्व की कोई भी वस्तु उनका घात-प्रतिघात नहीं कर सकती। प्रत्येक वनस्पति को छोड़कर साधारण वनस्पति एवं पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के ये सूक्ष्म जीव हैं। साधारण वनस्पतिकाय के सूक्ष्म जीवों को सूक्ष्म निगोद भी कहते हैं। निगोद का अर्थ है—साधारण वनस्पतिकाय का शरीर। इस विश्व में असंख्य गोलक हैं। एक-एक गोलक में असंख्यात निगोद हैं। एक-एक निगोद में अनन्त जीव हैं। अथवा व्यवहार में न आने के कारण इनको अव्यवहार-राशि के जीव भी कहा जाता है। इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त होता है।

बादर नाम कर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अनेकों के मिलने से चर्म चक्षु से देखा जा सके, वे बादर एकेन्द्रिय जीव हैं। पाँच स्थावरकाय के भेद से इसके पाँच भेद हैं। ये विश्व के एवं लोक के नियत देश में ही मिलते हैं; सर्वत्र नहीं। बादर वनस्पतिकाय के प्रत्येक और साधारण दो भेद हैं। बादर साधारण वनस्पतिकाय को बादर निगोद भी कहते हैं। इसमें भी अनन्त जीव होते हैं। इन सबके एक स्पर्शन इन्द्रिय है। अतः इन जीवों को एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। द्वीन्द्रिय का अर्थ है—दो इन्द्रिय वाले जीव दो इन्द्रिय कौन-सी हैं ? स्पर्शन और रसन। त्रीन्द्रिय का अर्थ है—तीन इन्द्रिय वाले जीव। तीन इन्द्रिय कौन-सी हैं ? स्पर्शन, रसन और घ्राण। चतुरिन्द्रिय का अर्थ है—चार इन्द्रिय वाले जीव। चार इन्द्रिय कौन-सी हैं ? स्पर्शन, रसन, घ्राण एवं चक्षु। इनमें से प्रत्येक का पर्याप्त और अपर्याप्त मिलाकर के विकलेन्द्रिय जीव के छह भेद होते हैं। विकलेन्द्रिय का अर्थ है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रिय न हों। दूसरे शब्दों में दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं। द्वीन्द्रिय जीव जैसे— शंख। त्रीन्द्रिय जीव जैसे— कीड़ा-मकोड़ा। चतुरिन्द्रिय जीव जैसे—भ्रमर-बिच्छू आदि।

संज्ञी के भेद

पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी को समनस्क और असंज्ञी को अमनस्क भी कहते हैं। संज्ञा और मन-दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। क्या संज्ञा और मन एक ही हैं ? अथवा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इस विषय पर आगे विचार किया जाएगा। पहले इस बात को समझने का प्रयत्न होना चाहिए, कि संज्ञी और असंज्ञी शब्द का अर्थ क्या है ? जिस जीव में संज्ञा हो, वह संज्ञी होता है। जिस जीव में संज्ञा न हो, वह असंज्ञी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। संज्ञी के दो भेद हैं—गर्भज और औपपातिक। गर्भज के दो भेद हैं—मनुष्य और तिर्यञ्च। गर्भ से उत्पन्न होने वाले को गर्भज कहते हैं। मनुष्य पशु और पक्षी गर्भज होते हैं। उपपात से अर्थात् बिना गर्भ के उत्पन्न होने वाले को औपपातिक कहते हैं। उपपात उस स्थान विशेष को भी कहते हैं, जहाँ देव और नारक जन्म लेते हैं। देव, शय्या पर जन्म लेते हैं और नारक, कुम्भी में जन्म लेते हैं। अतः देव और नारक को औपपातिक कहते हैं। देव और नारक सदा संज्ञा ही होते हैं, कभी असंज्ञी नहीं होते। संमूर्च्छिम मनुष्य और अगर्भज तिर्यञ्च असंज्ञी होते हैं। संमूर्च्छिम अगर्भज ही होता है। संमूर्च्छिम मनुष्य कहाँ होते हैं? मल-मूत्र आदि चौदह प्रकार के अशुचि स्थानों में। जैसे उच्चार (मल) में, प्रस्रवण (मूत्र) में, खेल (कफ) में, संघाण (नाक के मल) में, वान्त (वमन) में, पित्त में, पूत (राध) में, शोणित (रक्त) में, शुक्र (वीर्य एवं रज) में, रज एवं वीर्य के पुनः आर्द्र होने में, मृतक जीव के कलेवर में, स्त्री और पुरुष के संभोग में, गंदी नाली एवं मोरी में और सर्व प्रकार के अशुचि स्थानों में उत्पन्न होने वाले जीव संमूर्च्छिम कहलाते हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य भी होते हैं, और तिर्यञ्च भी होते हैं। ये इतने (बारीक) होते हैं, कि चर्मचक्षुओं से दिखलाई नहीं पड़ते। इनका आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। एकेन्द्रिय जीव के दो भेद—सूक्ष्म और बादर, पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद संज्ञी और असंज्ञी तथा विकलेन्द्रिय के तीन भेद मिलकर जीव के सात भेद हैं। इन सातों का पर्याप्त और अपर्याप्त मिलाकर, जीव के चौदह भेद किए गए हैं। स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा करने वाला जीव पर्याप्त कहलाता है, और स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूरा न करने वाला अपर्याप्त।

संज्ञी की परिभाषा

संज्ञी और समनस्क दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय वाचक हैं। जो संज्ञी है, वह समनस्क अवश्य होता है, और जो समनस्क होता है, वह संज्ञी अवश्य होगा। आगमों में संज्ञी शब्द अधिक रूढ एवं प्रचलित है। दार्शनिक ग्रन्थों में उसके स्थान पर समनस्क शब्द अधिक प्रचलित हो गया दोनों की भावना और अर्थ एक होने पर भी प्रश्न यह होता है, कि संज्ञी के लिए समनस्क शब्द का चुनाव क्यों किया गया? सम्भवतः इसका मुख्य कारण यही है, कि संज्ञा की अपेक्षा मन का बोध शीघ्र होता है। संज्ञा शब्द एक उलझन भरा शब्द है। संज्ञा अनेक प्रकार की है। संज्ञी में किस संज्ञा को आधार माना जाए? संज्ञा शब्द को स्पष्ट समझे बिना संज्ञी के स्वरूप को भी नहीं समझा जा सकता है। अतः संज्ञा क्या है? यह प्रश्न मुख्य है। संज्ञा शब्द का सामान्य रूप में अर्थ होता है—चेतना एवं ज्ञान। चेतना और ज्ञान तो एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवों में भी होता है। तो क्या वे भी संज्ञी हो सकते हैं?

संज्ञा शब्द के उक्त अर्थ के आधार पर संज्ञा के दो भेद हैं—ज्ञान रूप संज्ञा और अनुभव रूप संज्ञा। ज्ञान रूप संज्ञा के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान। केवलज्ञान क्षायिकी संज्ञा है। क्योंकि वह ज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्राप्त होती है। और यह संज्ञा तेरहवें गुणस्थान से पूर्व प्राप्त हो सकती। शेष चार ज्ञान क्षयोपशामिकी संज्ञा है। क्योंकि ये चारों ही ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। मनःपर्यायज्ञान विशिष्ट श्रुतधर एवं विशिष्ट संयत को ही हो सकता है। अवधिज्ञान गर्भज मनुष्य एवं तिर्यञ्च तथा देव और नारक को भी हो सकता है। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों सहचर है। अतः संसार के जीव मात्र में इनकी सत्ता रहती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव में ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो अवश्य ही अनावृत रहता है। कभी भी जीव ज्ञान शून्य होता नहीं। यदि संज्ञी से ज्ञान-संज्ञा वाले को ग्रहण करे, तब तो संसार के समग्र जीव संज्ञी ही होंगे, असंज्ञी कोई भी नहीं होगा। अतः संज्ञी में ज्ञान संज्ञा का ग्रहण नहीं किया गया।

अनुभवरूप संज्ञा के चार भेद हैं—आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। आहार संज्ञा क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय का फल है। और शेष तीन संज्ञाएँ—भय, मैथुन और परिग्रह, मोहनीय कर्म के उदय का फल है। वेदनीय एवं मोहनीय कर्म के उदय के फलस्वरूप सकषाय अवस्था में संसार के समस्त जीवों में ये चारों संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं। आहार की अभिलाषा आहार संज्ञा, भय से होने वाली भय संज्ञा, संभोग की इच्छा से होने वाली मैथुन संज्ञा और लोभ से होने वाली परिग्रह संज्ञा। नारक जीवों में आहार संज्ञा अधिक, तिर्यञ्चों में भयसंज्ञा अधिक, मनुष्यों में मैथुन संज्ञा अधिक और देवों में परिग्रह संज्ञा अधिक होती है। इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है, कि अनुभव रूप संज्ञा समग्र जीवों में होने से इसके आधार पर भी संज्ञी की परिभाषा नहीं की जा सकती है।

एक अन्य प्रकार से भी संज्ञा के दश भेद किए गए हैं। जैसे—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा। ये दश संज्ञाएँ एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में होती हैं। अतः इन संज्ञाओं के आधार पर भी संज्ञी की परिभाषा नहीं बन सकती। ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशों संज्ञाएँ भी अनुभव रूप संज्ञाएँ हैं। ज्ञान रूप और अनुभव रूप संज्ञा के आधार पर संज्ञी के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं हो सकता। तब, प्रश्न होता है कि संज्ञी किस संज्ञा के आधार पर होता है।

जिस संज्ञा के आधार पर संज्ञी के स्वरूप और लक्षण का निर्वचन किया जाता है, उस संज्ञा के तीन भेद हैं—दीर्घकालिकी, हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी। इनमें से हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी की संज्ञाओं के आधार पर भी संज्ञी का व्यवहार नहीं होता। क्योंकि दृष्टिवादिकी संज्ञा केवल उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है, जो दृष्टिवाद का ज्ञाता हो। सर्व सामान्य को यह संज्ञा प्राप्त नहीं होती। किसी विशिष्ट लब्धिधर संयत को ही दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त होता है। यह श्रुतज्ञान रूप होने से छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को ही होती है। अतः इस संज्ञा के कारण संज्ञी का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। क्योंकि संज्ञी जीव तो मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है। जबकि दृष्टिवादिकी संज्ञा केवल सम्यक्दृष्टि को ही होती है। हेतुवादिकी संज्ञा का अर्थ है—जिस संज्ञा से जीव इष्ट और अनिष्ट का विचार कर सके, हित और अहित को जान सके। इतना ही नहीं, बल्कि इष्ट में प्रवृत्त हो सके, और अनिष्ट से निवृत्त हो सके। हित को स्वीकार कर सके और अहित का परिहार कर सके, उस संज्ञा को हेतुवादिकी संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा विकलेन्द्रिय जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय तथा संमूर्च्छिम जीवों में होती है। इसका फलित अर्थ यह है, कि मन वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों में हेतुवादिकी संज्ञा नहीं होती है। अतः इस संज्ञा के आधार पर भी संज्ञी का स्वरूप स्थिर नहीं होता है।

परिशेष न्याय से दीर्घकालिकी संज्ञा ही संज्ञी के व्यवहार का कारण है। इसी संज्ञा के, आधार पर जीव संज्ञी होता है। प्रश्न होता है, कि दीर्घकालिकी संज्ञा में क्या विशेषता है, जिसके कारण जीव सज्ञी हो जाता है, और जिसके अभाव में जीव असंज्ञी रहता है। दीर्घकालिकी संज्ञा जिसमें हो, वह संज्ञी है। क्योंकि इसमें भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में घटने वाली घटनाओं का चिन्तन स्पष्ट रहता है। मैंने क्या किया ? मैं क्या करूँगा ? मैं क्या कर रहा हूँ ? इस प्रकार का चिन्तन ही वस्तुतः संज्ञी होने का आधार बन सकता है। इसको संप्रधारण संज्ञा भी कहते हैं। दीर्घकालिकी संज्ञा और संप्रधारण संज्ञा दोनों का अभिप्राय एवं फलित अर्थ एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं। जिसके संप्रधारण संज्ञा हो, वह संज्ञी। संप्रधारण संज्ञा किसे कहते हैं ? जिसमें ईहा और अपोह हो। अथवा जिसमें गुण और दोष की विचारणा हो। यह दीर्घकालिकी संज्ञा अथवा यह संप्रधारण संज्ञा किस-किस को होती है ? नारक और देव को तथा गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च को। अतः नारक, देव, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही संज्ञी होते हैं, शेष सभी असंज्ञी होते हैं। संज्ञी को समनस्क भी कहते हैं, जिसका अर्थ है—मन सहित, मन वाला।

मन का लक्षण

मन क्या है ? और मन का स्वरूप क्या है ? जैनदर्शन के सिद्धान्त ग्रन्थों में और विशेषतः आगमों में मन के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है—अनिन्द्रिय और नोइन्द्रिय। इसका अभिप्राय है, कि मन इन्द्रिय तो नहीं है, किन्तु इन्द्रिय जैसा है। क्योकि इन्द्रियों के समान वह भी विषयों को ग्रहण करता है। मन के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य मन पुद्गल रूप होने से जड़ है, और भाव मन इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रूप होने से चेतन है। भाव मन तो सभी जोवों के होता है। किन्तु द्रव्य मन सभी को नहीं होता। किसी के होता है, और किसी के नहीं होता। जिन जीवों के द्रव्य मन होता है, वस्तुतः वे जीव ही संज्ञी कहलाते हैं। द्रव्य मन स्पष्ट चिन्तन का, ईहा का और अपोह का आधार वनता है। अतः द्रव्य मन के कारण ही संज्ञो का व्यवहार होता है। मन का स्वरूप क्या है ? संकल्प और विकल्प करना। जैसे कि मैं एक मनुष्य हूँ। मैं मनुष्य क्यों हूँ ? क्योंकि मुझमें मनुष्य के धर्म हैं। इस प्रकार के चिन्तन को ही संकल्प एवं विकल्प कहा गया है। संकल्प और विकल्प मन के धर्म हैं।

प्रश्न होता है, कि मन रहता कहाँ है। शरीर के किस स्थान विशेष में वह रहता है। इस विषय में दो मत हैं—एक श्वेताम्बर परम्परा का और दूसरा दिगम्बर परम्परा का। दिगम्बर परम्परा के विचार के अनुसार मन हृदय में रहता है, जो हृदय आठ पंखुड़ी वाले कमल के समान होता है। श्वेताम्बर परम्परा के विचार के अनुसार तो मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। **यत्र पवनस्तत्र मनः** शरीर में जहाँ-जहाँ पवन है, वहाँ सर्वत्र मन है। पवन के साथ मन की व्याप्ति का अर्थ इतना ही है, कि जैसे पवन सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके रहता है, वैसे मन भी समग्र शरीर को व्याप्त करके रहता है। मन को किसी एक नियत प्रदेश में मानना ठीक नहीं है। क्योंकि मन आत्मा के सर्व प्रदेशों को व्याप्त करके रहता है। अन्यथा उपयोग की प्रवृत्ति आत्मा के समग्र प्रदेशों में कैसे हो सकेगी ? यह तो प्रत्यक्ष ही है, कि शरीर में सर्वत्र ही सुख और दुःख की अनुभूति होती है। अतः मन को नियत देश में स्थित मानना उचित नहीं है। मन का विषय क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि श्रुत ही मन का विषय है। वैसे तो मतिज्ञान भी मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विषय है, फिर भी मुख्य रूप से मन का विषय श्रुतज्ञान ही है। क्योंकि मन किसी भी विषय का ग्रहण इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। मन को अप्राप्यकारि कहा है। संक्षेप में मन का इतना ही स्वरूप है।

पर्याप्ति का स्वरूप

जीव के चौदह भेदों में कहा गया था, कि पर्याप्त और अपर्याप्त। यहाँ प्रश्न होता है, कि पर्याप्त किसको कहते हैं ? और अपर्याप्त किसको कहते हैं ? सामान्य रूप से इस प्रश्न का उत्तर है, कि जो पर्याप्ति सहित हो, वह पर्याप्त तथा जो पर्याप्ति सहित न हो, वह अपर्याप्त।

पर्याप्ति आत्मा की एक शक्ति है, और वह शक्ति पुद्गलों के उपचय से प्राप्त होती है। जिस शक्ति के द्वारा जीव पुद्गलों का आहरण करके उन्हें शरीर रूप में, इन्द्रिय रूप में, श्वास एवं उच्छ्वास रूप में, भाषा रूप में और मन रूप में परिणत करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं। जीव अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच कर प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, और उसके बाद भी जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन सबको शरीर, इन्द्रिय आदि रूपों में परिणत करता रहता है। पुद्गल परिणमन की इस शक्ति को ही पर्याप्ति कहा जाता है।

पर्याप्ति के भेद

पर्याप्ति के छह भेद इस प्रकार हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। जिस शक्ति से जीव आहार ग्रहण करके उसे खल और रस रूप में परिणत करता है, उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं। खल का अर्थ है—शरीर की रचना में अनुपयोगी एवं असार भाग। रस का अर्थ है—शरीर पोषण करने वाला द्रवित पदार्थ। जीव अपने भवान्तर की उत्पत्ति के प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसी समय उन पुद्गलों में ग्रहण किए आहार को खल और रस रूप में परिणत करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसी को आहार पर्याप्ति कहते हैं। यहाँ पर आहार पर्याप्ति का सामान्य कारण प्रथम समय में ग्रहण किए पुद्गल हैं और परिणमन शक्ति की उत्पत्ति कार्य है। कारण और कार्य दोनों यहाँ पर एक समय में होते हैं। शरीर पर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से रस रूप में परिणत आहार को जीव रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य रूप सप्त धातुओं में परिणत करता है, वह शरीरपर्याप्ति है। इन्द्रियपर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से शरीर में से इन्द्रिय योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके इन्द्रिय रूप में परिणत किया जाय, वह इन्द्रियपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से श्वासोच्छ्वास वर्गणा में से पुद्गलों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत किया जाए, वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। भाषा पर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणत किया जाए, वह भाषापर्याप्ति है। मनःपर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से मनोवर्गणा में से पुद्गलों को ग्रहण करके मनोरूप में परिणत किया जाए, वह मनः पर्याप्ति है। ये छह पर्याप्ति हैं।

पर्याप्तियों के प्रारम्भ और समाप्ति का क्या विषय है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है, कि प्रारम्भ तो सबका एक साथ ही होता है, किन्तु समाप्ति सबकी अलग-अलग होती है। पहले आहार पर्याप्ति पूर्ण होती है, फिर क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति पूर्ण होती है। पूर्व की अपेक्षा उत्तर पर्याप्ति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होती जाती है। कल्पना कीजिए छह व्यक्ति एक साथ सूत कातने के लिए बैठें, तो जो बारीक कातता है, उसे उसकी अपेक्षा अधिक समय लगेगा, जो मोटा कातता है। आहार पर्याप्ति सबसे स्थूल है, और मनःपर्याप्ति सबसे सूक्ष्म है।

पर्याप्ति पूर्ण होने में कितना काल लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि औदारिक शरीर की अपेक्षा से आहार पर्याप्ति एक समय में पूर्ण हो जाती है। उसके बाद शरीर आदि पर्याप्ति अनुक्रमशः एक-एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पूर्ण हो जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आहार पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। फिर इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति में भी एक-एक अन्तर्मुहूर्त लगता है। यही क्रम वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर का भी रहता है। अन्तर केवल इतना ही है, कि वैक्रिय और आहारक शरीर में आहार पर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त बाद में शरीरपर्याप्ति पूर्ण होती है, और फिर इन्द्रिय आदि शेष पर्याप्ति एक-एक समय में पूर्ण होती जाती हैं। यह पर्याप्तियों का काल क्रम है।

किस जीव के कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ? इसके उत्तर में कहा जाता है, कि एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियाँ होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोंच्छ्वास। विकलेन्द्रिय जीवों के और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के पाँच पर्याप्तियाँ होती है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियाँ होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन। पहली तीन पर्याप्तियाँ—आहार, शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इन्द्रिय को प्रत्येक जीव पूर्ण करता ही है। क्योंकि उक्त तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही जीव अगले भव का आयुष्य बाँध सकता है। इन तीन की अपेक्षा से तो प्रत्येक जीव पर्याप्त होता है।

फिर पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या क्या है? स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे, वह पर्याप्त। स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्त। जैसे एकेन्द्रिय जीव के स्वयोग्य पर्याप्ति चार हैं। इन चार को पूर्ण करने वाला पर्याप्त और पूर्ण न करने वाला अपर्याप्त होता है। पर्याप्त के दो भेद हैं—लब्धिपर्याप्त और करणपर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को अभी पूर्ण नहीं किया, किन्तु पूरा अवश्य करेगा, वह लब्धि (शक्ति) की अपेक्षा से लब्धि-पर्याप्त कहा जाता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर लिया, वह करण (क्रिया) की अपेक्षा से करण-पर्याप्त कहा जाता है। करण का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। जिस जीव ने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करली, उसे करण पर्याप्त कहते है। इस प्रकार लब्धि पर्याप्त, अवश्य ही करण-पर्याप्त होकर ही मरता है। परन्तु करण-पर्याप्त का वास्तविक अर्थ यही है, कि जिसने स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण की हैं, वह करण-पर्याप्त है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया, और करेगा भी नहीं, वह लब्धि (शक्ति) से अपर्याप्त है—लब्धि अपर्याप्त है। जिसने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया, किन्तु अवश्य करेगा, वह करण (क्रिया) से अपर्याप्त है—करण अपर्याप्त है। यहाँ पर इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि देव और नारक कभी लब्धि अपर्याप्त नहीं होते, पर करण अपर्याप्त होते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं। यह पर्याप्ति का स्वरूप है।

प्राण का स्वरूप

प्राण जिसमें हों, वह प्राणी है। प्राणी का अर्थ है—जीव एवं आत्मा। प्राण एक शक्ति है, जिसके संयोग से प्राणी जीवित रहता है, और जिसके वियोग से प्राणी मर जाता है। प्राण शक्ति से जीवन रहता है, और प्राणों का घात होने से मरण होता है। प्राण-शक्ति प्रत्येक जीव में रहती है। जीव तो सिद्ध भी हैं। क्या उनमें भी प्राण होते हैं? प्राण तो सिद्ध में भी होते हैं, किन्तु उनमें द्रव्य-प्राण नहीं, भाव प्राण होते हैं।

प्राण के भेद

प्राण-शक्ति के दो भेद हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। जिसका अतिपात (विघात) हो सके, वह द्रव्य प्राण है, और जिसका अतिपात न हो सके, वह भाव प्राण होता है। भाव प्राण के चार भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य (आत्म-शक्ति)। सिद्धों में क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक चारित्र और अनन्त वीर्य होता है। अतः सिद्धों में भी प्राण-शक्ति अवश्य ही रहती है। द्रव्य प्राण के दश भेद हैं—पाँच इन्द्रिय, तीन बल (योग), श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। इन्द्रिय, योग एवं श्वासोच्छ्वास का स्वरूप बताया जा चुका है। श्वासोच्छ्वास को आन-पान (आण-प्राण) भी कहते हैं। जिसका अर्थ है—साँस अन्दर लेना और साँस बाहर छोड़ना। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र, तीन बल—मनोबल, वचनबल एवं काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—इन सबको मिलाकर दश प्राण होते हैं। ये दश प्राण संसारी जीवों में होते हैं। इसी आधार पर उन्हें प्राणी कहा जाता है, इन दश प्राणों को द्रव्य प्राण कहने का अभिप्राय यह है, कि ये सब पौद्गलिक हैं, पुद्गल से बने हुए हैं।

आयुष्य-प्राण :

दश प्रकार के द्रव्य प्राणों में सबसे मुख्य प्राण आयुष्य प्राण है। आयुष्य प्राण के रहते हुए ही अन्य प्राण अपना कार्य करते हैं। आयुष्य प्राण के क्षय होते ही, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास सब चेष्टा-रहित हो जाते हैं। अतः द्रव्य प्राणों में आयुष्य प्राण ही सबसे मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण है। आयुष्य प्राण को ही जीवन-शक्ति कहा जाता है। आयुष्य प्राण क्या है? जिसके अस्तित्व से प्राणी जीता है, और जिसके क्षय होने से प्राणी मर जाता है, वह आयुष्य प्राण है।

आयुष्य के भेद :

आयुष्य प्राण के चार भेद हैं—नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य, मनुष्य आयुष्य और देव आयुष्य। एक अन्य प्रकार से भी आयुष्य के दो भेद होते हैं—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। अपवर्तनीय का क्या अर्थ है विष, शस्त्र आदि बाह्य निमित्त से और रोग आदि अन्तरंग निमित्त से जिस आयुष्य की स्थिति घट जाती है, उसको अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। अनपवर्तनीय का क्या अर्थ है? उक्त बाह्य और अन्तरंग निमित्तों से जो न घटे, उसको अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। अनपवर्तनीय आयुष्य के दो भेद हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम का क्या अर्थ है? आयुष्य के घटने के निमित्त को उपक्रम कहते हैं। उपक्रम सहित जो हो, वह सोपक्रम। उपक्रम रहित जो हो, वह निरुपक्रम। आयुष्य के घटने के निमित्त मिलने पर भी जो आयुष्य कभी न घटे, वह सोपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य होता है। जिसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्य के घटने के निमित्त मिलते ही नहीं, वह निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य कहा जाता है। अपवर्तनीय आयुष्य तो अवश्य सोपक्रम ही होता है। क्योंकि जब अपवर्तनीय आयुष्य होता है, तब उसे विष एवं शस्त्र आदि का बाह्य निमित्त अवश्य मिलता ही है।

यदि आयुष्य का अपवर्तन माना जाएगा, तो उसमें तीन दोष आयेंगे—कृतनाश, अकृताभ्यागम और आयुष्य कर्म की निष्फलता। आयुष्य का अपवर्तन (घटना) मानने का अर्थ होगा, कि आयुष्य अपना फल दिए बिना ही नष्ट हो गया। अतः कृत-नाश दोष आता है। आयुष्य कर्म शेष रहते हुए भी यदि मृत्यु हो जाती है, तो अकृताभ्यागम दोष आता है। अकृत (अनिर्मित) मरण का अभ्यागम (प्राप्ति) यदि आयुष्य रहते हुए मरण होता है, तो आयुष्य कर्म की निष्फलता सिद्ध होती है। अतः आयुष्य का अपवर्तन मानना उचित नहीं है।

इसके समाधान में कहा गया है कि उक्त दोषों में से एक भी दोष नहीं आता। क्योंकि जब विष एवं शस्त्र आदि उपक्रम होता है तब सम्पूर्ण आयुष्य कर्म एक साथ उदय में आता है, और शीघ्र भोग लिया जाता है। अतः बद्ध आयुष्य को भोगे बिना नाश नहीं होता है। सम्पूर्ण आयुष्य कर्म का क्षय होने पर ही मृत्यु होती है। अतः अकृत मरण का अभ्यागम नहीं हुआ। शीघ्रता से आयुष्य उपभोग होने से एवं सम्पूर्ण आयुष्य भोगने के बाद ही मरण होने से आयुष्य कर्म की निष्फलता भी नहीं है। अतः कृतनाश, अकृताभ्यागम और निष्फलता में से एक भी दोष यहाँ पर उपस्थित नहीं होता है।

अनपवर्तनीय आयुष्य किसकी होती है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि औपपातिक जन्म वालों (देव और नारक) असंख्यात वर्ष जीवी (मनुष्य और तिर्यञ्च) चरम शरीर वालों (उसी शरीर से मोक्ष प्राप्त करने वाले) और उत्तम पुरुषों (तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती आदि) का आयुष्य ही अनपवर्तनीय होता है, शेष जीवों के अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय-दोनों प्रकार का आयुष्य होता है।

कौन जीव कब पर भव का आयुष्य बाँधता है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि देव, नारक और असंख्यात वर्षी मनुष्य एवं तिर्यञ्च अपने आयुष्य के छह मास शेष रहने पर, पर-भव का आयुष्य बांधते हैं। निरुपक्रम आयुष्य वाले मनुष्य एवं तिर्यञ्च अपने आयुष्य का तृतीय भाग शेष रहने पर, परभव का आयुष्य बाँधते हैं। सोपक्रम आयुष्य वाले अपने आयुष्य के तीसरे, नवमें तथा सत्ताईसवें भाग में इस प्रकार त्रिगुण करते-करते अन्त में अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर तो अवश्य ही परभव का आयुष्य बाँध लेते हैं।

जीव के पाँच-सौ त्रेसठ भेद :

जैनदर्शन का जीव-विज्ञान बहुत विस्तृत गहन और गम्भीर है। अन्य दर्शनों में जीवतत्त्व का इतना गम्भीर विवेचन उपलब्ध नहीं होता। जीव एवं आत्मा के स्वरूप का जितना विस्तार तथा भेद एवं प्रभेद जैनदर्शन में है, उतना अन्य किसी भी दर्शन में नहीं किया गया है। जीव के जघन्य एक भेद का और मध्यम चौदह भेद का वर्णन किया जा चुका है। अब यहाँ पर संक्षेप में जीव के उत्कृष्ट पांच-सौ त्रेसठ भेद का कथन इस प्रकार से समझना चाहिए—

नरक भूमि सात हैं और उनके गोत्र भी सात हैं, जिनका वर्णन पीछे दिया जा चुका है। नरक में रहने वाले जीव नारक कहे जाते हैं। सात नरकों में रहने वाले सात नारक जीवों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त रूप से चौदह भेद होते हैं।

नारक, मनुष्य और देव को छोड़कर संसार के समस्त जीव तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च जीवों के अड़तालीस भेद इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय के बाईस भेद, विकलेन्द्रिय के छह भेद और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के बीस भेद—कुल मिला कर तिर्यञ्च जीवों के अड़तालीस भेद होते हैं।

मनुष्य के तीन-सौ तीन भेद इस इस प्रकार हैं—कर्मभूमि के मनुष्य पन्द्रह, भोगभूमि के मनुष्य तीन और अन्तर द्वीपों के मनुष्य छप्पन। सब मिला कर गर्भज मनुष्य के एक-सौ एक भेद हुए। एक-सौ एक के पर्याप्त एवं अपर्याप्त रूप से दो-सौ दो भेद हुए। इनमें संमूर्च्छिम मनुष्य के एक-सौ एक भेद मिला कर, मनुष्य तीन-सौ तीन भेद होते हैं।

देव के एक-सौ अठानवें भेद इस प्रकार हैं—भवनपति के दश भेद, (परमाधार्मिक) के पन्द्रह भेद, व्यन्तर एवं वानव्यन्तर के सौलह भेद, तिर्यग् जृम्भक के दश भेद, ज्योतिष्क के दश भेद, वैमानिक के बारह भेद, किल्विषिक के तीन भेद, लोकान्तिक के नव भेद, ग्रैवेयक के नव भेद, अनुत्तर के पाँच भेद–सब मिला कर भेद हुए निन्यानवें। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से एक-सौ अठानवें भेद होते हैं। अतः नारक के १४, तिर्यञ्च के ४८, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८ भेद मिलाकर जीव के ५६३ भेद होते हैं। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org